स्मृति लेख

वेदों का पुरुषार्थ प्रेरित यथार्थवाद

डॉ. भवानीलाल भारतीय

वेदों की पुरुषार्थप्रधान विचारधारा में मानव जीवन को अत्यन्त गौरव प्रदान किया गया है– 'शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि' हे जीव तू शुद्ध है, तेज स्वरूप है। वेद में सन्तान के वीर और बलवान होने की कामना की गई है –

अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु। – यजु. 17 / 43

वैदिक संहिताओं में आशावाद का स्वर सर्वत्र सुनाई पड़ता है। वेदों के मंत्रद्रष्टा ऋषि के शब्दों में –

मधु वाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिंधवः।
माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।।

वायु हमारे लिए मधु को प्रवाहित करती है, नदियाँ मधु बहा रही हैं, औषधियाँ भी मधुयुक्त हैं। यहाँ तक कि दिन और रात, द्यौ और पृथिवी, सर्वत्र मधुर भाव ही व्याप्त है। अन्न और वनस्पतियाँ, प्राणदाता सूर्य और दुग्ध प्रदान करने वाली गाएँ भी मधु बरसाती हैं। यहाँ हताशा और अवसाद के लिए कोई स्थान नहीं है। वैदिक पुरुषार्थवाद का इससे बढ़कर प्रमाण और क्या होगा कि यहाँ मनुष्य को सौ वर्ष जीवित रहकर पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी गई है।

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवाः। – यजु. 25/22

तथा

तच्चक्षुर्देवहितं जीवेम शरदः शतम् – 36–24 आदि

आर्य जीवन मीमांसा में धर्म के साथ अर्थ और काम को समुचित महत्त्व प्रदान किया गया है। धनोपार्जन के लिए वेद का आदेश है : 'शतस्त समाहर सहस्र हस्त संकिरः' सैकड़ों हाथों से कमाओ और हजार हाथों से खर्च करो। अर्थ की ही भांति काम को भी मनुष्य की सभी लौकिक प्रवृत्तियों का मूल माना गया है–

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत।
राकाग्र कामेन वृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि।।

–अथर्व 16/52/1

वैदिक चिन्तन में मनुष्य जीवन की सफलता उसके सर्वप्रिय होने में मानी गई है। अत: कहा गया है–

प्रियो देवानां भूयासम। प्रिय: प्रजानां भूयासम।
प्रिय: पशूनां भूयासम। प्रिय: समानानां भूयासम।।

–अथर्व. 17/1/2–5

मनुष्य देवों, प्रजाओं, पशुओं और अपने समवयस्कों का प्यारा बने। अथर्ववेद काण्ड 10, सूक्त 3 के मंत्र 17–25 की श्रृंखला में मनुष्य को कीर्ति, तेज और यश प्राप्त करने वाला कहा गया है–

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम्।
एवा में वरणो गणि: कीर्ति भूर्ति नियच्छतु।। – आदि.

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं– वेद की दृष्टि, बुद्धि, विवेक और मानवी प्रज्ञा को जागृत करती है। यहाँ अंध धारणा, मूढ़ विश्वास, कूपमण्डूकत्व एवं गतानुगति के लिए कोई स्थान नहीं है। इसीलिए वैदिक उपासक अग्निस्वरूप दिव्य एवं तेजस्वी परमात्मा से उस मेधा बुद्धि की कामना करता है, जो हमारे प्राक्कालीन देवों, पितरों, मनीषियों और विद्वानों द्वारा धारण की जाती रही है। मेधा की यही प्रार्थना हम वरणीय वरुण, तेजोनिधान अग्नि, बलशाली इन्द्र तथा सर्वाधार धाता परमात्मा से भी करते हैं।

यां मेधां देवगणा: तया मेधां में वरुणो ददातु।

–यजु. 32/14/15

मानवी जीवन की सार्थकता पारस्परिक आदान–प्रदान के कारण है। 'केवलाघो भवति केवलादी' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला वेद कहता है–

देहि मे ददामि से निमे धेहि नि ते दधे।

तू मुझे दे और मैं तुझे दूँ। तू मुझ में उत्तम गुण धारण करा और मैं तुझे उत्तम आदर्श प्रदान करूँ।

वैदिक अध्यात्मवाद में परम तत्त्व को महान् पुरुष, आदित्यतुल्य प्रकाशमान तथा अंधकार से परे कहा गया है–

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं'

– यजु. 31/18

हमारा मध्यकालीन चिन्तन बहुत–कुछ पारलौकिक फलों की कामना पर बल

देता रहा जबकि वेद की दृष्टि इसी लोक में आनन्द, आमोद-प्रमोद तथा अमृत की कामना से युक्त रही-

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।
कामस्य यत्राप्ता कामस्तत्र माममृतंकृधिः।।

ऋग्वेद 6/113/11

वैदिक जीवन मीमांसा में गृहस्थ आश्रम को सर्वत्र महत्त्व मिला है। मिथ्या वैराग्य और संसार से पलायन की ऐकान्तिक दृष्टि को जब हमारे देश में महत्त्व मिला तो वर्णाश्रम की स्वस्थ मर्यादाओं का ह्रास हुआ।

नारी मुई घर सम्पत्ति नासी।
मूड मुडाय भये सन्यासी।।

गोस्वामी तुलसीदास की इस उक्ति का अनुसरण करने वाले खाखी, वैरागी, कनफटे जोगी, अघोरी, औघड़ तथा इसी श्रेणी के तथाकथित साधुओं से पूर्ण हमारे देश का जनसमाज त्रस्त तथा व्याकुल हो उठा। इसीलिए स्वामी दयानन्द को लिखना पड़ा- 'जो किसी ने मूर्ख अविद्या की मूर्ति न देखी हो तो खाखीजी का दर्शन कर आवे।' अविद्या, पाखण्ड, अनाचार, दुराचार और आडम्बरों की साक्षात् प्रतिमा तुल्य ये खाखीजी वे हैं, जिन्होंने इधर-उधर से पूछकर ही अठारह अध्याय गीता रगड़ मारी और गुरु एक भी नहीं किया।

किन्तु वैदिक विधान में गृहस्थ की महिमा को निम्न प्रकार दर्शाया गया है-

इहैव स्तं मा वि योष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे।।

ऋग्वेद 10.85.42

हे गृहस्थों, तुम्हारा परस्पर विरोध न हो, तुम गृहस्थाश्रम में रहते हुए पूर्ण आयु को प्राप्त करो, पुत्र और पौत्रों के साथ क्रीड़ा करते हुए अपने ही घरों में रहो और इस घर को मोद से युक्त करो, और भी कहा गया है-

समंजन्तु विश्वे देवा.... ।

- अथर्व. 10.8547

गृहस्थाश्रम में जल, घृत, दूध, रसयुक्त अन्न और सुपक्व तथा शाखाच्युत मीठे फलों की धारा प्रवाहित होती है। ये सभी पदार्थ पुरुषार्थ से ही प्राप्त होते हैं।

उर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्त्रुतम।
स्वधास्थ तर्पयत से पितृन।।

– यजु. 2 / 34

इसी गृहस्थ में माता, पिता, पितामह, पितामही, मातामह, मातामही, पितृव्य, मातुल, स्वश्रू श्वसुर आदि पितर निवास करते हैं और उपर्युक्त रससिद्ध पदार्थों का भक्षण कर पूर्ण तृप्ति प्राप्त करते हैं।

वेद का जीवन दर्शन व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व मानवता में सांमजस्य तथा सौमनस्य स्थापना का लक्ष्य स्थापित करता है। इसीलिए अथर्ववेद के परिवार सूक्त में कहा गया है–

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शान्तिवाम।।

और

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सगञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।। – 3/30

वेद में सामाजिक यथार्थवादिता इस प्रकार लक्षित होती है–

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये।। – अथर्व. 16/62/1

तथा

रूचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रूचं राजसु नस्कृधि।
रूचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रूचारूचम।। –यजु. 18.48

वैदिक समाजवाद में लोगों के भोजनालयों और पानी पीने के स्थानों में भी समानता तथा एकता के लिए आहवान है–

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सहवोयुनज्मि।

विश्व विधाता ने हम मनुष्यों को एक ही कर्तव्य के धुरे से बांधा है। इसलिए अथर्ववेद का यह मंत्र एक–दूसरे के प्रति सहृदयता, सौमनस्य तथा स्नेह दिखलाने की आवश्यकता पर बल देता हुआ कहता है–

सहृदयं सामन्यस्यमविद्वेषं कृणोभिवः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाध्न्या।।

– अथर्व 3/30

सद्य: जात वत्स के प्रति गाय का जैसा वत्सल भाव होता है उसी प्रेम भावना से समाज के लोग एक-दूसरे के प्रति स्नेह, सहानुभूति और सौमनस्य का व्यवहार रखें।

वैदिक पुरुषार्थवाद के अन्तर्गत परिश्रमपूर्वक अर्थोपार्जन को ही महत्त्व दिया गया है। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण में रोहित के प्रति इन्द्र के उपदेश में कहा गया है-

हे रोहित, हमने सुना है कि जो यात्रा नहीं करता, उसको श्री नहीं मिलती। इन्द्र उसी का सखा है जो निरन्तर विचरण करता है। अत: *चरैवेति चरैवेति*। इसी प्रकरण में आगे कहा गया- बैठे हुए का भाग्य बैठता है, खड़े हुए का खड़ा रहता है, जो पड़ा रहता है, उसका भाग्य भी पड़ा रहता है, किन्तु जो विचरता है, उसका भाग्य भी चलता है। अत: चरैवेति चरैवेति तथा कलि जमीन पर पड़ा रहता है, द्वापर अंगड़ाई लेने के तुल्य है, त्रेता खड़ा रहता है, सतयुग चलता रहता है, इसलिए चरैवेति।

नाना श्रान्ताम श्रीरस्तीतिरोहित श्रुश्रुम।
पापोनृषद्वरोजन इन्द्र इच्चरत: सखा। -चरैवेति
आस्ते भगआसीनस्यार्ध्वस्तिष्ठतितिष्ठत:
शेते निपद्यमानस्यचरातिचरतो भ्रश्चरैवेति।
कलि: शयानो भवति संजिहानस्तुद्वापर:।
उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन।। चरैवेति-चरैवेति

वैदिक पुरुषार्थवाद की अवधारणा जहाँ मनुष्य को निरन्तर कर्म करने के लिए प्रेरित करती है, और...

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:।
एवं त्वयिनान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

....सुसंस्कृत मनुष्य के रूप में सौ वर्ष पर्यन्त कर्मठ जीवनयापन करने की प्रेरणा देती है वहाँ अवैदिक विचारधाराओं में आत्मपीड़न, देहदण्डन, संसार से पलायन और सामाजिक दायित्वों से विमुख होने की सीख दी गई है। पौराणिक धारणाएँ मनुष्य की इन्द्रियों की निन्दा करती है और उन्हें विषय- लम्पट कह कर उनके मिथ्या दमन की बात करती है जबकि वेदों में कानों से भद्र सुनने, नेत्रों से भद्र दृश्यों को देखने तथा अपने अंगों को सुदृढ़ तथा स्थिर बनाने का उपदेश दिया गया है-

भद्रं कर्णेभि: श्रुणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा:।

- यजु. 25/21

मनुष्य जीवन को पापपूर्ण, पाप से उत्पन्न, पापाचार कहने वाली मध्यकालीन अवधारणा के विपरीत वेदों के पाप का तिरस्कार करते हुए अपने उदात्त स्वर को निम्न प्रकार से मुखरित किया–

परोपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि ?

अथर्व. 6.45.1.

हे मन में आने वाले पाप, तू मुझ से दूर हो जा।

वेद मंत्रों में जिस दिव्य वातावरण का निर्माण किया गया है वह हमें मानव जीवन की क्षुद्रता से दूर ले जाकर देवताओं की–सी सुमति प्राप्त करने तथा देवताओं के सख्य में विचरने की प्रेरणा करता है—

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां।

तथा

देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम।

इसी प्रकार ***वयं देवानां सुमतौ स्याम*** कहकर मनुष्य को देवों की सुबुद्धि में ही रहने के लिए कहा गया है।

वस्तुत: वैदिक जीवनमीमांसा धर्म और अर्थ, अध्यात्म और भौतिकता, श्रेय और प्रेय, इहलोक और परलोक के बीच समुचित सामंजस्य और समन्वय पर बल देती है। वेद में कृषिकर्म को ही श्रेयस्कर माना है क्योंकि कृषि श्रम, पुरुषार्थ और अध्यवसाय पर आधारित है, जबकि द्यूत क्रीड़ा को वेद में गर्हित माना है। ऋग्वेद के दशम मण्डल का द्यूत सूक्त जुआरी की अभिशापभरी कहानी तथा उसके पश्चात्तापपूर्ण उद्गारों से युक्त एकालाप है। निष्कर्षत: वेद ने कहा–

अक्षैर्मा दीव्य: कृषिमित्कृषस्व।

हे मनुष्य, तू अक्ष क्रीड़ा जैसा पुरुषार्थहीन कार्य मत कर अपितु श्रमयुक्त कृषिकर्म में जुट जा।

वैदिक यथार्थवाद मनुष्य को अपने राष्ट्र के प्रति कर्तव्यपालन के लिए उन्मुख करता है। राष्ट्रीय भावनाओं से ही अनुप्राणित होकर स्वामी दयानन्द ने स्वराज्य की अर्चना करने का उपदेश दिया, माता–पिता के समान सुखदायक तथा पक्षपातशून्य विदेशी राज्य की तुलना में स्वदेशी राज्य को वरीयता प्रदान की तथा आर्याभिविनय जैसे भक्ति–भावापन्न ग्रन्थ में वेद–मन्त्रों का अर्थ करते हुए परमात्मा से आर्यों के अखण्ड, चक्रवर्ती, सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना तथा स्वदेश को पराधीनता के पाशों से मुक्त करने की कामना व्यक्त की।

अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त (12/1) में मातृभूमि की महिमा, उसके नैसर्गिक सौन्दर्य तथा उसमें रहने वाले मनुष्यों की भाषा, संस्कृति, कला, जीवन-पद्धति, विचार सम्पदा तथा भाव सम्पत्ति का जैसा हृदयग्राही चित्रण मिलता है वैसा अन्यत्र संसार के किसी साहित्य में दुर्लभ ही है। ***माता भूमिः पुत्रोऽहम्पृथिव्याः*** की घोषणा करने वाला राष्ट्र का नागरिक और भूमि का पुत्र इस धरती को विश्वम्भरा, वसुधानी, हिरण्यवक्षा तथा प्रतिष्ठा जैसे सम्बोधनों से सम्बोधित करता है। इस धरती की वृक्ष और शिलाएँ, प्रस्तर खण्ड तथा धूलिकण सब-कुछ उसके लिए सुखद बन जाते हैं। यहाँ के वनस्पतियाँ, यहाँ की लोहित, कृष्ण और बभ्रु-वर्णयुक्त धरा उसके लिए आदरणीय और वंदनीय है। यही वह धरती है जिस पर उसके पूर्वजों ने विचरण कर अपने वीरतापूर्ण और गौरवयुक्त कृत्य किये थे, यहीं पर उन्होंने आसुरी संस्कृति को पराजित किया था -

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
यही पृथ्वी गौ, अश्व और अन्य प्राणियों की शरणदात्री है-
गवामश्चानां वयसश्च विष्ठा

अतः हम इसी मातृभूमि से ऐश्वर्य और वस् की कामना, याचना करते करते हैं-

भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु

जिस धरती पर किये गये पूर्वजों के नृत्यों और गीतों की ध्वनि आज भी हमारे कर्ण-कुहरों में समाई हुई है, वैदिक ऋचाओं का गान करने वाले ऋत्विकों के स्तोत्र पाठ और सामगान आज भी हमारे मनों में पूत भावनाओं का संचार करते हैं, वह पृथ्वी हमारे शत्रुओं को पराभूत कर हमें अभय बनाये। 63 मंत्रों का प्रभविष्णु शैली में लिखा गया धरतीमाता का यह गीत वेद के अत्यन्त ओजस्वी एवं उदात्त स्थलों में से एक है।

राष्ट्र-रक्षा, राष्ट्र-संचालन तथा सुशासन के कतिपय महत्त्वपूर्ण सूत्र वेदों में उल्लिखित हुए हैं। अथर्ववेद में सभा और समिति को प्रजापति की दुहिताएँ बताया है और ऋग्वेद का संज्ञान सूक्त मनुष्यों के मंत्र, समिति, मन, चित्त, आकृति और हृदय में एकतानता स्थापित करने के लिए कहता है और एक साथ चलने, एक ही वाणी का उच्चारण करने और मनों को एक-सा रखकर देवों के आचरण का अनुकरण करने का उपदेश देता है। राष्ट्रार्चन तथा राष्ट्र के अभ्युदय के लिए जैसे स्वर्णिम सूत्र हमें वैदिक साहित्य में उपलब्ध होते हैं वैसे वैदिकेतर साहित्य में तो सर्वथा दुर्लभ ही हैं।

वेद में प्रेरणाएँ और वेद के उपदेश देश, काल, सम्प्रदाय, वर्ण, लिंग की कृत्रिम सीमाओं का अतिक्रमण कर सार्वजनीन, सौहार्द, सार्वदेशिक भ्रातृभाव तथा दिव्य मनुष्यत्व

की प्रतिष्ठापना करते हैं। यही कारण है कि वेदों में इस समस्त विश्व – प्रपंच को परमात्मा से परिपूर्ण ईश का आवास कहा गया है—

ईशावास्यं इदं सर्वं।

इसी पुनीत और व्यापक आस्तिक भाव को जब मनुष्य अपने भीतर धारण कर लेता है तो वह स्व और पर के भेद को भूल जाता है और इस स्थिति में –

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मन्यैव पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।

जब सब प्राणियों को अपने जैसा और अपने को अन्यों के तुल्य मान लिया तो न तो कोई विचिकित्सा ही शेष रहती है और न मोह एवं शोक के लिए ही अवकाश रहता है– आत्मा के एकत्व को देखने वाले के लिए शोक और मोह की गुंजाइश ही कहाँ रहती है–

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यत।।

यही विराट् मानववाद मित्रस्य चक्षुणा समीक्षामहे की बात कहता है और अनार्य भावनाओं का विनाश कर विश्व को आर्य श्रेष्ठ बनाने के लिए प्रेरित करता है–

इन्द्रं वर्धन्तोऽसुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम।

वस्तुतः वैदिक पुरुषार्थवाद की पुनः प्रतिष्ठा से ही विश्व मानव की सुरक्षा और उसका अभ्युत्थान सुनिश्चित किया जा सकेगा। वैदिकेतर तांत्रिक, पौराणिक, मध्यकालीन गलदश्रु भावुकता से परिपूर्ण भक्तिवाद और संसार को मिथ्या और आभास मात्र बताने वाले मिथ्या वेदान्तवाद ने मानव का अहित ही किया है, यह हमारी सुदृढ़ धारणा है।

वेदों का सार्वभौम (सम्प्रदाय निरपेक्ष) स्वरूप :

विश्व साहित्य में वेदों को संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ स्वीकार किया गया है। उनकी रचना अथवा आविर्भाव मानव सृष्टि के आरम्भ में उस समय हुआ जब किसी वर्ग, वर्ण–सम्प्रदाय, जाति अथवा राष्ट्र के आधार पर मनुष्यों का विभाजन नहीं हुआ था। मनुष्य की सार्वत्रिक उन्नति के लिए अभीष्ट, जो कुछ भी वेदों में कहा गया है वह मानव के व्यापक हित का प्रयोजक है। इसी परिप्रेक्ष्य में हम मूलतः यजुर्वेद को आधार बनाकर वेदों के सार्वभौम रूप की चर्चा करेंगे।

वेदों में सत्य को परम धर्म तथा परम व्रत कहा गया है। सत्याचरण की कोई सीमा निर्धारित नहीं है। वाणी, मन और कर्म से यथार्थ का अनुसरण और आचरण ही सत्याचरण है। इसी अभिप्राय को ***अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि*** (1/5) में अभिव्यक्त किया गया है।

मनुष्य का सबसे बड़ा व्रत यही है कि वह अमृत को त्यागकर सत्य को धारण करे। ***सत्याः सन्तु यजमानस्य कामः*** (12:44) में भी सत्य के प्रति इसी आस्था को व्यक्त किया गया है। वेदों के अद्वितीय प्रवक्ता और व्याख्याता दयानन्द सरस्वती ने सत्य के महत्त्व को स्वीकार करते हुए आर्यसमाज के नियमों में सत्य को बार-बार उल्लिखित ही नहीं किया अपितु सत्य और असत्य का विचार करके कर्तव्य निर्धारण करने पर ही बल दिया है।

मनुष्य विचारशील प्राणी है। वह ज्ञान से युक्त है और ज्ञानप्राप्ति की अदम्य लालसा उसका एक आवश्यक गुण है। ज्ञान के द्वारा बुद्धि की शुद्धि होती है, यह मनु की प्रसिद्ध उक्ति है। इसी बुद्धि को शुद्ध, पवित्र, तेजोयुक्त और शुभ कर्मों की प्रेरणादात्री बनाने की प्रार्थना उस प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में की गई है जो यजुर्वेद में एकाधिक बार आया है। सर्वोत्कृष्ट, सर्वोत्पादक, विश्वविधाता सविता देव से हम उस अपूर्व भर्ग-तेज की याचना करते हैं जो हमारी बुद्धियों को शुभ कर्मों की ओर प्रेरित करता है। बुद्धि का एक अन्य पर्याय अथवा भेद मेधा है। वेदों में मेधा-जनन तथा मेधा-प्राप्ति विषयक अनेक उदात्त विचार व्यक्त हुए हैं। ***यां मेधां देवगणा*** (32/14) तथा ***मेधां में वरुणो ददातु*** (32/15) आदि मन्त्रों में मनुष्य के लिए उस मेधा की कामना की गई है जो हमारे पुराकालीन पूर्वजों और देवगणों को प्राप्त थी तथा जिसकी उपासना उन्होंने अतीत में की। वैसी ही मेधा प्राप्त कराने की कामना आदि आज का मानव भी करे तो यही उसके लिये श्रेयस्कर है।

वस्तुतः वैदिक संस्कृति ही विश्व संस्कृति है। उसमें ही मानव का सर्वांगीण हित निहित है। इस मानवीय संस्कृति को यजुर्वेद ने 'प्रथमा संस्कृति' तथा 'विश्ववारा संस्कृति (7/14) कहा है। इस संस्कृति के प्रवर्तक स्वयं परमात्मा हैं, जिनकी व्यवस्था के अधीन संसार में मानव सृष्टि का प्रसार होता है और जीवात्माएँ स्वकल्याण हेतु पुरुषार्थयुक्त होकर प्रयत्नशील होती हैं। वेद की इसी सार्वभौम शिक्षा को ***अग्ने नय सुपथा*** (7.43, 401) जैसे मन्त्रों में व्यक्त किया गया है। यहाँ अग्रगन्ता, अग्रणी नेता अग्नि परमात्मा से ही प्रार्थना की गई है कि वह हमें ऐश्वर्य तथा सार्वत्रिक सुख प्राप्त कराने के लिये सुपथगामी बनाये। वस्तुतः मनुष्य के नेतृत्व की चरम क्षमता उस अग्नि परमात्मा में ही है जो सब प्रकार के दोषों से रहित, स्खलनों से मुक्त तथा परिपूर्ण आदर्शयुक्त हैं। इस प्रकार की शिक्षाओं की विद्यमानता ही वेदों के सार्वभौम होने का स्पष्ट प्रमाण है।

वेदों में राष्ट्रभक्ति, मातृभूमि के प्रति प्रेम आदि की भी चर्चा है, किन्तु यह राष्ट्रभावना किसी भौगोलिक सीमाओं से आबद्ध देश विशेष के प्रति व्यक्त नहीं की गई। ***नमो मात्रे पृथिव्यै*** (6/22) कहकर जहाँ मातृभूमि की वन्दना की है, वहाँ ***वयं राष्ट्रे***

जागृयाम पुरोहिताः (6/23) कहकर राष्ट्ररक्षा में तत्पर स्वदेश हितैषी पुरोहित वर्ग को जागृत करने का संदेश भी दिया गया है।

राष्ट्रभक्ति और धरती माता की आराधना का यह व्यापक, उदात्त और ओजस्वी भाव अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त में जिस महनीय शैली में वर्णित हुआ है उसकी विवेचना पृथक् स्थल की अपेक्षा रखती है। वेद मन्त्रों में यत्र-तत्र वरुण के व्रतों की चर्चा आई है। वरुण परमात्मा की उस शक्ति का वाचक है जो स्वयं व्रतपति, व्रतों का रक्षक तथा अन्यों से उनका पालन कराने वाला है। वरुण पाशों (नियम और अनुशासन) से सारे चराचर जगत का धारण, पोषण और संचालन हो रहा है। वेदों में आये वरुण के वे सभी मन्त्र उच्च आध्यात्मिक भावापन्न होने के कारण मनुष्य में नैतिकता को उत्तेजित करने वाले तथा उसके चारित्रिक स्तर को उठाने वाले हैं। इसीलिए ***इमं में वरुण श्रुधि*** आदि मन्त्रों में वरुण से निवेदन किया गया है कि वह हमारी प्रार्थनाओं को सुने और हमारे प्रति अनुकम्पा करे। वरुण देवता के मन्त्रों में आध्यात्मिकता का जैसा उच्च स्तर और स्वर दिखाई और सुनाई पड़ता है वैसा विश्व साहित्य में अन्यत्र दुर्लभ ही है।

वेदों का उद्बोधन और सम्बोधन भी समग्र मानवता के लिये है। उसकी दृष्टि में सभी मनुष्य परमात्मा के दिव्य अमृत पुत्र हैं ***शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्यपुत्रा आ ये धामनि दिव्यानि तस्थुः*** (11/5) आदि मन्त्रों में इसी भाव को व्यक्त किया गया है। वेदों में व्यक्त सार्वभौम भाव तथा उसमें निहित चिन्तन इस मान्यता पर आधारित है कि परमात्मा रचित यह सृष्टि मनुष्य के हित, कल्याण और मंगल के लिये ही निर्मित की गई है। यदि आत्मिकता के इस सर्वोच्च भाव को हम अपने में जगाने में समर्थ हो जावें और ***सर्वे भूतेषु चात्मानं*** (40/6) को चरितार्थ करें तो सृष्टि में हमें सर्वत्र मधुरता, मादकता और प्रसन्नता छलकती दिखाई देगी। उस स्थिति में ***मधु वाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिंधवः। माध्वीर्नः सन्त्वौषधीः*** (13/27) तथा इसी प्रकार रात्रि और उषा, पृथ्वी और आकाश, द्यौ और अन्तरिक्ष, अन्न और वनस्पति, सूर्य और उसकी रश्मियां सभी मधुयुक्त दिखाई पड़ेंगी। उसी भाव को ***द्यौ शान्तिरन्तरिक्षं शान्ति*** आदि मन्त्रों में भी व्यक्त किया गया है। वेदों में भद्र भावना के मन्त्र भी उसकी सार्वभौम शिक्षाओं के सूचक हैं। ***आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वत् तथा भद्रो नो अग्निराहु तो भद्रा रातिः सुभग भद्रो अध्वरः*** (15/38) जैसे मन्त्रों में यही भद्र भावना और भद्र कामना दर्शायी गई है। वेद अज्ञानान्धकार का नाश कर समस्त विश्व को ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित और उद्भासित करने में विश्वास रखते हैं। अतः यजुर्वेद के 15 वें अध्याय के 58 वें मन्त्र में *विश्वं ज्योतिर्यच्छ* कहकर संसार को दिव्य

ज्योति प्रदान करने की बात कही गई है। पुरुषाध्याय का प्रसिद्ध मन्त्र 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं' आदित्य वर्ण, अन्धकार से परे उस दिव्य और महान् पुरुष को जानने की बात करता है जिसका ज्ञान प्राप्त करके ही मृत्यु का प्रतिवाद किया जा सकता है और अमृत की प्राप्ति सम्भव है। वेद की दृष्टि से इससे भिन्न मोक्ष प्राप्ति का और कोई मार्ग नहीं है। वेद का यह आध्यात्मिक चिन्तन सार्वजनीन है।

यजुर्वेद का रुद्राध्याय स्थावर और जंगम जगत् की एक रोचक झांकी प्रस्तुत करता है। यहाँ सभा है तो सभापति भी है, गण है तो गणपति भी है। सेना और सेनानी, रथी और अरथी, कुलाल, कर्मकर निषाद, श्वान और श्वपति, ह्रस्व और वामन, वृद्ध और युवा, ज्येष्ठ और कनिष्ठ, पूर्वज और अपरज, मध्यम और जघन्य, कवचधारी और वर्मधारी, धनुषधारी और इधुधारी ये सब जीव जगत् की एक विचित्र और बहुरंगी झलक दिखाते हैं। वेदों में प्रतिपादित आध्यात्मिक और दार्शनिक भाव भी परवर्ती साम्प्रदायिक आस्थाओं, उपासना तथा पूजा पद्धतियों के सर्वथा विपरीत विश्वजनीन अनुभूतियों से युक्त हैं। ***'विश्वतश्चक्षुरूत विश्वतोमुखो बाहुरतविश्वतस्पात। सः बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमि जनयन् देव एक'*** कहकर वेद जहाँ सुदृढ़ एकेश्वरवाद का प्रतिपादन करते हैं वहाँ उसी सर्वोच्च सत्ता को समस्त प्राणियों को चक्षु, मुख, बाहु एवं पाद के रूप में कल्पित कर कालान्तर में विकसित होने वाले सर्वात्मवाद की भूमिका भी बना देते हैं। ***विश्वकर्मा विभना*** (17/26) तथा ***यो देवानां नामधा एक एव*** (17/27) जैसे मन्त्रों से बहुदेवतावाद का निरसन होता है तो ***न तं विदाथ य इमां जजान*** (17/31) में परमात्मा को संसार का रचयिता, जीवात्मा से पृथक् किन्तु उसका अन्तर्यामी कहा गया है। अविद्या रूपी नीहार से आवृत, नाना प्रकार की दार्शनिक कल्पना में लीन मात्र इन्द्रियों और प्राणों की तृप्ति में ही संलग्न यह जीव यदि उसे नहीं जानता तो इसके लिये किसे दोष दिया जाये ?

जैसा कि हम कह आये हैं, वेदों के वर्ण्य विषय सार्वभौम और सार्वकालिक है। 18वें अध्याय में विभिन्न पदार्थों, गुणों, तत्त्वों, अनुभूतियों तथा क्रियाओं को जिस विराट् फलक पर उपस्थित किया गया है क्या उसकी विद्यमानता में कोई यह कहने का साहस कर सकता है कि वेद का लक्ष्य सार्वभौमिकता से कुछ भिन्न भी है? प्राण और अपान, वाक् और मन, चक्षु और श्रोत्र, ओज और सह, शर्म और वर्म, सत्य और श्रद्धा, क्रीड़ा और मोद, ऋत और अमृत, यन्ता और धर्ता, आत्मा और तनु, क्षेम और धृति, काम और सौमनस्य, भग और द्रविण, भद्र और श्रेय, पय और रस, घृत और मधु, रयि और राय, विभु और प्रभु, पूर्ण और पूर्णतर, भूत और भविष्य, ब्रीहि और यव, माष और तिल, श्यामाक और नीवार,

गोधूम और मसूर, अश्म और मृतिका, गिरि और पर्वत, सिकता और वनस्पति, हिरण्य और अयस्क, लोहा और सीसा, अग्नि और आप, वीरुध और औषधि, ग्राम्य और आरण्य, भूत और भूति, कर्म और शक्ति, अग्नि और इन्द्र, साम और इन्द्र, सविता और इन्द्र, सरस्वती और इन्द्र, पूषा और इन्द्र, बृहस्पति और इन्द्र, सुवा और चमस, द्रोण कलश और ग्रावा, वेदि और बर्हि, अवमृथ और स्वागाकार, अग्नि और धर्म, अर्क और सूर्य, प्राण और अश्वमेध, अदिति और दिति, द्यौ और दिशा, व्रत और ऋतु, तप और संवत्सर, अहोरात्र और रथन्तर जैसे द्वन्द्वों (जोड़ों) का उल्लेख वेद के कथ्य को एक विराट् और विश्वजनीन भूमिका पर स्थापित कर देता है। इसी प्रकार आयुर्यज्ञेन कल्पतां आदि मन्त्रों में जिस यज्ञमय जीवन की कल्पना की गई है वह किसी भौतिक यज्ञ क्रिया का वाचक न होकर जीवन को भौतिक धरातल से ऊपर उठाकर दिव्यता का पर्याय बनाने का संदेश देता है।

जैसा कि इस लेख के आरम्भ में हमने कहा कि वेद का चरम तात्पर्य मनुष्य को सत्यान्वेषी बनाना तथा सत्य के प्रति उसके हृदय में अनन्य उत्पन्न करना है। इसी अभिप्राय को यजुर्वेद के 16वें अध्याय के 77वें मन्त्र में व्यक्त किया गया है जहाँ कहा है–

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यान्त्रते प्रजापतिः।
अश्रद्धरमनृते दाधाच्छ्रद्धा सत्ये प्रजापतिः।।

प्रजापति ने सत्य और अनृत में विवेक करने की शक्ति मनुष्य को दी है। यही कारण है कि सत्य में उसकी सहज श्रद्धा और अमृत के प्रति उसकी सहज विरक्ति सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। मानवी इतिहास में कहीं ज्ञान और बुद्धि के चमत्कार दिखाई पड़े तो कहीं बाहुबल की विजय लक्षित हुई। किसी युग में ब्राह्म शक्ति ने क्षात्र शक्ति को अनुशासित किया तो किसी अन्य युग में शारीरिक और पाशविक बल हावी होकर विद्वानों, बुद्धिमानों और विचारशीलों को अपना दास एवं अनुचर बनाता रहा। वेद की समन्वयमूलक शिक्षा का ही चमत्कार है कि यहाँ ब्रह्म और क्षत्र के बीच सामंजस्य और सौमनस्य की कामना की गई है– ***यत्र ब्रह्मं च क्षत्रं च सम्यंचौ चरतः सह।। तल्लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना*** (20/25) कहकर पुण्य और प्रज्ञा का निवास इस समन्वय में ही दिखाया है।

वेदों में प्रायः मातृभूमि, मातृभाषा और मातृ संस्कृति को तीन देवियों के रूप में वर्णित किया गया हैं। कहीं ये ***'इडा सरस्वती महीतिस्त्रोदेवीर्मयोभुव'*** कह कर वर्णित है तो अन्यत्र ***तिस्त्रो देवीर्हविषा वर्षमाना... सरस्वती देवी भारती*** (20 / 43) के रूप में प्रस्तुत की गई हैं। विश्व ज्ञान की सरस्वती का आराधन प्रत्येक वैदिक को इष्ट होना चाहिए, इसी तथ्य को लक्ष्य में रखकर सरस्वती सूक्त के निम्न मन्त्रों का चिन्तन अपेक्षित है–

पावका नः सरस्वती आदि। - 20/84-85, 86

आब्रह्मणो (22/22) इस मन्त्र में वर्णित वैदिक प्रार्थना मनुष्य जाति के सामूहिक हित, अभ्युत्थान तथा मंगलविधान के लिए लिखी है। इसमें ब्रह्मवर्चस्युक्त ब्राह्मण, शूर और महारथ राजन्य, दूध देने वाली धेनु, शीघ्रगामी अश्व, सती नारी, युवा और वीर यजमान पुत्र, यथा काम जल बरसाने वाले पर्यन्य तथा फलवती औषधियों की कामना वैदिक प्रार्थना की व्यापकता और सार्वजनीयता प्रदर्शित करती है। यजुर्वेद का वर्ण्य विषय मानवी हित और मानवीय कर्तव्य को ही उत्तेजित नहीं करता, वह विराट् प्राणी सृष्टि और जंगम जगत् की विविधता की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। तभी तो 24वें अध्याय में कपिंजल, कलंविक, तित्तिर, वर्तिक, ककर, विककर, शिशुमार, मण्डूक, मत्स्य, नक, हंस, बलाक, क्रौंच, चक्रवाक, कुरूट उलूक, मयूर, कपोत, पारावत, आखु, नकुल, रूरू, गौर, महिष, गवय, उष्ट्र, हस्ति, मशक, भृंग, गोमृग, मेष, मर्कट, शार्दूल, वृषभ, सुपर्ण, मत्स्य, कूर्म, गोधा, मकर, मूषिक, सर्प, शश, गर्दन, सूकर, कृकलास, शकुनि आदि के नामोल्लेखपूर्वक जलचर, खेचर तथा भूचर - इस विराट् प्राणि - समुदाय को वर्णित किया गया है।

वेद की शिक्षाएं सम्प्रदाय-भेद से विरहित समग्र मानव जाति के हित की कामना से स्रष्ट हैं, इसका इससे बढ़कर और प्रमाण क्या हो सकता है कि स्वयं वेद रूपी इस कल्याणी वाणी के उद्घोषक परमात्मा ने ही ***यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः*** की घोषणापूर्वक वेदों में वर्णित विचारधारा को ब्रह्म और राजन्य, शूद्र और वैश्य, आरण्यक और ग्राम्य सभी के हित की विधायक कहा है। जिस वैदिक संहिता में *विश्वानिदेव* (30/3) जैसी उदात्त भावना को व्यक्त करने वाले मन्त्र हों, जहाँ परमात्मा को चित्रविचित्र वस्तुओं, धन-सम्पतियों का न्यायपूर्वक बाँटने वाला कहकर उसका स्तवन किया गया हो (***विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सविस्तारं नृचक्षसम्*** (30/4), जहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, सूत, मागध, शैलूश, कुलाल, कर्मार, मणिकार, इषुकार, धनुष्कार, ज्याकार, निषाद, व्याघ्र, गन्धर्व, आप्सरा, गोपाल, अजपाल, सुराकार, पिशुन, क्षता, धीवर, दाश, कैवर्त, गुह, किरात, किंपुरुषं, पोल्कस, हिरण्यकार, वर्णिक, अक्षराज, कितैव, चरकाचार्य, अतिदीर्घ, अतिह्रस्व, अतिस्थूल, अतिशुक्ल, अतिकृष्ण, अतिलोमश, पुंश्चली, क्लीव आदि नाम गिना कर मनुष्य समाज में गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र की वरीयता, क्षुद्रता और लघुता की दृष्टि से नाना भेदों का उल्लेख एवं कथन किया हो, उन वेदों को किसी सम्प्रदाय विशेष की सीमा में परिसीमित कर देना इस महनीय साहित्य के

प्रति अन्याय ही होगा।

यजुर्वेद के 31वें अध्याय में परम पुरुष, विराट् नाम से अभिहित परमात्मा तथा उसकी सृष्टि रचना का उल्लेख है तो 32वें अध्याय में *तदेवाग्नि, हिरण्यगर्भः येन द्यौरुग्रा, यं. कुन्दसी, वेनस्तत, सनो बंधु, परीत्य भूतानि, सदसस्पतिमद्भुतं* आदि मन्त्रों के द्वारा परमात्मा की दिव्य सत्ता का प्रोज्जवल वर्णन है। यज्जाग्रतो से आरम्भ होकर सुषारथिरश्वानिव पर्यन्त शिवेसंकल्पात्मक मन्त्र षट्क मन को सन्मार्ग प्रेरित कर दिव्य संकल्पों वाला बनाता है। इसी 34वें अध्याय के प्रातरग्नि प्रातरिन्द्र आदि 5 मन्त्रों का विनियोग दयानन्द सरस्वती ने प्रातः शय्या त्याग के समय बोलने में किया है। ***'वयं भगवन्तः स्याम'*** की यह प्रार्थना मनुष्य को ऐश्वर्यकामी बनाती है।

36वें अध्याय में पुनः मानव के व्यापक हित की कामना के द्योतक मंत्रों की बहुमूल्य लड़ियाँ हमें उपलब्ध होती हैं। इन्द्रो विश्वस्य राजति में द्विपाद मनुष्य और चतुष्पाद अन्य प्राणियों की हितकामना की गई है। शन्नो मित्रः में परमात्मा को मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु और उरुक्रम आदि नामों से अभिहित शक्तियों को हमारे हित में क्रियाशील होने की कामना व्यक्त हुई है। सारे प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखने, मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणिभूतानि समीक्षन्ताम् तथा सर्वत्र अभय भावना के प्रसार की कामना को व्यक्त करने वाले यतोयतः समीहसे आदि मंत्र भी इसी अध्याय में हैं। 40वां अध्याय तो यजुर्वेदरूपी माला का सुमेरु ही है, जिसकी समाप्ति अग्ने नय सुपथा की प्रार्थना और ओ खं ब्रह्म के जयघोष से होती है।

8/423, नन्दन वन
जोधपुर (राजस्थान)